



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से, मार्गदर्शन विषय सम्बन्धित
पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के
चयन किये गये वचनामृत

‘अपने’ तो निर्विकल्पता भी करनी नहीं है; ध्रुवस्थलमें बैठनेसे निर्विकल्पता भी सहज होती है। पहले अभिप्राय ठीक करना चाहिए, फिर परिणाम भी ठीक होने लगते हैं। ५५९.

नित्य वस्तुका ही भरोसा ठीक करने योग्य है। ५६४.

‘मैं त्रिकाली तत्त्व हूँ,’ इसमें अहम्पना करना - वही बारह अंग-चौदह पूर्वका सार है; अंगपूर्वमें यही कहना है। ५७१.

प्रश्न :- अपरिणामी का अर्थ क्या? - आत्मा, पर्याय बिना का सर्वथा कुटस्थ है?

उत्तर :- अपरिणामी अर्थात् द्रव्य में पर्याय सर्वथा नहीं है, ऐसा नहीं है। लेकिन पलटनशील-परिणमनस्वभावी पर्याय को गौण करके, ‘मैं वर्तमान में परिपूर्ण हूँ, अभेद हूँ’ - ऐसे ध्रुवद्रव्य और ध्रुवपर्याय को (-जिसको कि, “नियमसार” में कारणशुद्धपर्याय कहा है, उसको) लक्ष्यगत् करने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

द्रव्य पलटता नहीं है, पर्याय पलटती रहती है। यदि द्रव्य परिणमन को प्राप्त हो जाए तो पलटते हुए द्रव्य के आश्रय से स्थिरता हो नहीं सकती; और स्थिरता बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए जो पलटती ही रहती है उसका लक्ष्य छोड़; और ध्रुव-अपरिणामी चैतन्यतत्त्व जो एक ही सारभूत है, उसका लक्ष्य कर!

पर्याय परिणमती है, उसका परिणमन होने दे! उसके सन्मुख मत देख! मगर उसी समय ‘तु’ परिपूर्ण-अपरिणामी-ध्रुवतत्त्व है, उसको देख!

अहो! ‘मैं’ वर्तमान में ही परिपूर्ण-ध्रुव-अपरिणामी तत्त्व हूँ! -यह बात जगत् के जीवों को नहीं जँचती है। और प्रमाण के लोभ में-आत्मा को यदि अपरिणामी मानेंगे तो प्रमाणज्ञान नहीं होगा और एकांत हो जाएगा, ऐसी आड़ लगाकर-पर्याय का लक्ष्य नहीं छोड़ना चाहते हैं। इस ही कारणसे वे अपरिणामी चैतन्यतत्त्व को प्राप्त नहीं होते हैं। ५८०.

पर्यायको उसको स्वकालमें रहने दो, वह उस कालका सत् है; उसमें उपयोग मत रोकना। ५९७.

(वचनामृतका शेष अंश पृष्ठ-१८ पर)

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२८६, वर्ष-२४, अक्टूबर-२०२१

आषाढ कृष्ण १०, बुधवार, दि. १३-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-८५, प्रवचन-३३

८६! एक आत्मा का ही मनन कर। योगसार
है न।

इक्कलउ इदिय रहियउ मण-वय-काय-ति-सुद्धि।
अप्पा अप्पु मुणेहि तुहुं लहु पावहि
सिवसिद्धि।।८६।।

‘लहु’ और ‘फुडु’ ऐसे बहुत शब्द आते हैं। अल्प
काल में तेरी मुक्ति होगी, भगवान! ‘एकाकी...’
‘एक्कलउ’ का भाई ने जरा ऐसा अर्थ किया है, निर्ग्रन्थ
होकर ऐसा। यहाँ तो गुणस्थान के भेद भी व्यवहार में
जाते हैं। अपना अकेला स्वरूप चिदानन्द अभेद, बस!
उसमें तू एकाकार हो जा।

‘इन्द्रियों से विरक्त होकर...’ पाँच इन्द्रियों से
विरक्त होकर, ‘मन-वचन-काय की शुद्धि से तू
आत्मा के द्वारा आत्मा का मनन कर।’
ओहो...हो...! आत्मा सम्पूर्ण पूर्ण प्रभु, उसका पूर्ण
स्वभाव, उस स्वभाव का ही एक का घोलन कर, घोलन
कर, उस स्वभाव का ही घोलन कर। समझ में आया?
किसी विकल्प को स्पर्श न कर। यह स्वभाव पूर्ण स्वरूप
व्यापक असंख्य प्रदेशी, अनन्त, इसमें ही, इसमें ही
घोलन कर।

‘आत्मा के द्वारा आत्मा का मनन कर...’
मनन का अर्थ विकल्प की बात नहीं है, हाँ! मनन
अर्थात् विकल्प, चिन्ता बिलकुल नहीं। अन्तर में ऐसा
का ऐसा एकाकार स्वरूप में पूर्ण एकाकार (हो)। ‘मोक्ष
की सिद्धि शीघ्र ही कर सकेगा।’ तुझे मुक्ति की
सिद्धि हो जायेगी, उसका फल मुक्ति है। समझ में आया?

‘आत्मा का मनन निश्चिन्त होकर करना
चाहिए।’ गृहस्थपने में इतनी चिन्ता का त्याग नहीं हो
सकता। इतनी बात विशेष करते हैं। ‘गृहस्थ के व्यवहार
धर्म...’ व्यवहार धर्म, षट्कर्म, दया, दान आदि का
विकल्प, ‘पैसा कमाना...’ (यह) अर्थ पुरुषार्थ;
‘कामभोग करना...’ यह काम पुरुषार्थ; ‘इन तीनों
काय के लिए मन-वचन-काय को चंचल व राग-
द्वेष से पूर्ण आकुलित रखना पड़ता है...’ धर्म,
काम, अर्थ फिर मोक्ष यहाँ तो अभी तीन के विकल्प हैं
न? अर्थ (अर्थात्) पैसा कमाने का अशुभराग, काम
अशुभ(राग) और धर्म शुभ परन्तु है तो शुभविकल्प की
जाल।

कोई ऐसा कहता है कि उसे भी धर्म कहा है और
उसे तुम पुण्य कहते हो? फिर कितने ही ऐसा कहते हैं।
परन्तु भाई! उसे ‘समयसार’ में पुण्य कहा है। प्रभु!

व्यवहार धर्म कहो या पुण्य कहो। निश्चय धर्म नहीं, व्यवहारधर्म। व्यवहार धर्म अर्थात् धर्म नहीं, धर्म नहीं; नहीं उसे कहना, उसका नाम व्यवहार है। अब उसे भाषा में तकलीफ आती है, वे पण्डित आये थे न, नहीं? तर्क तीर्थ, जमनालालजी। उन्हें अधर्म कहा तो कहने लगे नहीं... नहीं... नहीं... परन्तु तुम्हें शब्द में क्या तकलीफ आती है? भगवान आत्मा!

मुमुक्षु : सुनना रुचता नहीं है?

उत्तर : अरे...! परन्तु

किसलिए नहीं रुचता? प्रभु! तेरी शान्ति तुझे नहीं रुचे और राग रुचे? तो तू कहाँ जाएगा? समझ में आया? जहाँ तक राग का पोषण और रुचि है, वहाँ तक वीर्य अन्दर में जाने का कार्य नहीं कर सकता। समझ में आया? जैसा उसका स्वरूप स्वतन्त्र शुद्ध है, वैसी अन्तरदृष्टि करने में यदि राग की रुचि रह गयी और उससे कुछ लाभ है, किञ्चित् लाभ है, कुछ लाभ है (ऐसा रह जाएगा) तो दृष्टि वहाँ से हटेगी नहीं - ऐसी वस्तु है। हो, व्यवहार हो, उससे कौन इनकार करता है? परन्तु यदि उसकी रुचि रह गयी तो अन्तरंग में (नहीं जाया जा सकेगा)।

वीर्य का काम ही यह है कि, स्वरूप की रचना करना। वीर्य का काम राग की रचना करना ऐसा है ही नहीं। सैंतालीस शक्तियाँ हैं, पण्डितजी! सैंतालीस शक्तियाँ आती हैं न? उसमें ऐसा लिया है, वीर्यगुण किसे कहते हैं? भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं - वीर्य, स्वरूप की रचना करे उसे हम वीर्य कहते हैं। भगवान आत्मा अपने अनन्त गुण की निर्मल रचना पर्याय में करे, उसका नाम वीर्य है। राग रचना (होती है) वह वीर्य अपना वीर्य

है ही नहीं। है तो अपना पुरुषार्थ, हाँ! परन्तु वह कृत्रिम है, दोष है, इसलिए गिनने में नहीं आया है। शास्त्र में ऐसा लिया है! भगवान! सैंतालीस शक्ति का वर्णन अलौकिक वर्णन है।



वीर्यगुण का कार्य क्या? स्वरूप की रचना। तो क्या राग अपना स्वरूप है? व्यवहार रचना वह वीर्य का कार्य है? सम्यक् वीर्य अपना है, उसका कार्य है? आत्मा के वीर्य का वह काम है? समझ में आया? ऐसी बात बाहर प्रसिद्ध हो तब कहते हैं, घर का अर्थ करते हैं। ऐसा कहते हैं भाई!

ऐसा नहीं है, भाई! यह तो अन्दर लिखा है, उसके भावों को गूढरूप है, उसे खोलते हैं, खोले हैं, दूसरा कुछ नहीं है। घर की एक बात नहीं है। आहा...हा...! परन्तु इसे अन्दर जँचा न हो, इसलिए समझ में नहीं आता, इसलिए दूसरा अर्थ करता है। क्या करें? स्वतन्त्र जीव है। भाई! अनन्त काल से इसने ऐसा ही किया है। तीर्थकर के जीव ने ऐसा किया है। क्यों पण्डितजी! तीर्थकर के आत्मा ने पहले ऐसा किया था न? पूर्व में अज्ञान में ऐसा किया था। नौवें प्रैवेयक गया उसने ऐसा ही किया था। समझ में आया?

(यहाँ) कहते हैं, 'गृहस्थ का व्यवहार धर्म...' देखो, यह व्यवहार धर्म कैसा है? कि 'मन-वचन-काय को चंचल व राग-द्वेष से पूर्ण व आकुलित रखना पड़ता है...' व्यवहार धर्म में आकुलता है, विकल्प है, भाई! 'व पाँच इन्द्रियों के भोगों में उलझना पड़ता है।' पर की तरफ लक्ष्य जाता है न?

'जब सर्व चिन्ताएँ मिटती हैं, तब ही मन स्थिर होकर संकल्प-विकल्परहित होकर अपने आत्मा के शुद्धस्वभाव का मनन कर सकता है।'

थोड़ी भी शल्य रहेगी कि यह ऐसा, यह ऐसा (है), वह शल्य मिथ्यात्वशल्य है तो अन्दर में नहीं जा सकेगा। परवस्तु में उत्साहित वीर्य काम करे, राग में, पुण्य में, संयोग में तो वह वीर्य वहाँ रुक गया, वह अन्तर में काम नहीं करेगा। समझ में आया? पहले वीर्यमें से यह निकाल देना चाहिए कि राग और परवस्तु मुझे बिलकुल सहायता नहीं करते। मेरी सहायक मेरी चीज है। सदा सहायकपना उसमें पड़ा है, तीन काल-तीन लोक में करण / साधनगुण उसमें रहा हुआ है।

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि को शुभभाव तो होता है?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि को शुभभाव होता है वह एकान्त बन्ध का कारण है। एकान्त आस्रव है। कहां! सिद्ध को आया न? 'प्रवचनसार' में आया, सिद्ध को एकान्त शुद्धता है... नहीं आया?

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि को तो बन्ध का कारण है परन्तु सम्यग्दृष्टि को तो वे काम के हैं?

उत्तर : मिथ्यादृष्टि... सम्यग्दृष्टि को काम के बिलकुल नहीं। निमित्तरूप राग है, दूसरा कुछ नहीं। ज्ञानधारा में वह विघ्नधारा है। भाई! वह विघ्नधारा है, भाई! कर्म के लक्ष्य से उत्पन्न होता है, वह तो कर्मधारा है, वह स्वभावधारा नहीं है। समकृति को हो या मुनि को हो कोई लाभ नहीं। उसका ज्ञान करने का लाभ है, प्रमाण ज्ञान करने का। यह निश्चय का ज्ञान हुआ (साथ में) राग का व्यवहार का ज्ञान (हुआ)। प्रमाणज्ञान हुआ, इतना। बात तो यह है, दूसरा क्या है? दूसरा लाना कहाँ से? जैसा सत्य का स्वरूप हो, उस प्रकार आयेगा या दूसरा आयेगा? तीन काल-तीन लोक में सत्य पन्थ एक ही प्रकार का है।

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि को किंचित् लाभ तो अवश्य है न?

उत्तर : बिलकुल लाभ नहीं है, जितना स्वाश्रय है उतना लाभ है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का

पन्थ'। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ भरत, ऐरावत या महाविदेह हो, पन्थ तो एक ही है।

मुमुक्षु : किसी प्रकार ढीला रखे ऐसा नहीं?

उत्तर : तो इस लोहे को करो, थोड़ा न निपटता हो तो थोड़ा ढीला करो परन्तु सत्य में ढीला किस प्रकार रखा जाए। लहंतु अर्थात् समझे? पोला... पोला... ढीला करो। आहा...हा...! भगवान तुझमें ढीले की बात ही नहीं है। आहा...हा...! तू अकेले वीर्य का पिण्ड है। यदि वीर्यगुण से देखे तो अकेला वीर्य का पिण्ड है। ज्ञान से देखे तो अकेले ज्ञान का पिण्ड है। आनन्द से देखे तो अकेला आनन्द का पिण्ड है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा गुणपुंज आत्मा। गुणपुंज आत्मा है। कहा है न, सिद्धान्त प्रवेशिका में! द्रव्य किसे कहते हैं? गुणों के समूह को (द्रव्य कहते हैं)। समूह कहां या पुंज कहां। गुण का पुंज, अनन्त गुण का ढेर। है? जत्था कहते हैं? हिन्दी में ढेर... ढेर...। और गुण किसे कहते हैं? लो, इसमें है, रात्रि में कहा था। गुण किसे कहते हैं? द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में और सर्व अवस्थाओं में रहे, उसे गुण कहते हैं। एक ही सिद्धान्त ले लिया। उसकी किसी भी दशा में वह गुण काम करता है। गुण प्रत्येक दशा में है। उस दशा में पर है तो दशा है? समझ में आया? ऐसा सीधा-सादा सिद्धान्त है। गुण सर्व भाग में और सर्व अवस्थाओं में (रहता है)। गुण-भाव तो अपना है और द्रव्य का भाव है, द्रव्य में भाव है, क्षेत्र वह सर्व भाग में आ गया; सर्व अवस्थाओं में काल आ गया। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों आ गये। आहा...हा...! शास्त्रकार की कथन पद्धति अलौकिक! दिगम्बर सन्तों की पद्धति ही कोई अलौकिक है! एक-एक शब्द में पूरा सिद्धान्त उसमें भर दिया है। समझ में आया? श्वेताम्बर शास्त्र देखो तो कहीं यह बात नहीं है, ऐसी बात नहीं है। इस बात का स्वरूप ही बदल डाला है, स्वरूप बदल डाला है। हैं? यह तो सर्वज्ञ ने देखा, सर्वज्ञ ने कहा, ऐसा है।

ऐसा अनुभव में आता है, ऐसा ही आता है। ऐसी चीज है। आहा...हा...! यह आ गया है न? 'प्रगट अनुभव आपका' पहले पयासी में कह गये हैं, प्रभु! तू अनुभव कर तो तुझे ऐसा ही लगेगा। हम कहते हैं, वैसा ही तुझे ज्ञात होगा।

'जब सर्व चिन्ताएँ मिटें तब ही मन स्थिर होकर संकल्प-विकल्प रहित होकर अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप का मनन कर सकता है।' निर्ग्रन्थपने में अधिक ऐसा होता है। पहले ग्रन्थिभेद है, वह ठीक है, परन्तु ग्रन्थिभेद के अतिरिक्त दूसरी ग्रन्थि रहती है, उसे छोड़कर निर्ग्रन्थ (होता है)। पहले तो ग्रन्थिभेद हुआ, इस अपेक्षा से दृष्टि से निर्ग्रन्थ हुआ। राग की एकता की गाँठ टूट गई। राग की एकता की गाँठ टूट गयी, पृथक् हो गया और स्वभाव की पर्याय स्वभाव में एकत्व हो गयी तो दृष्टि में तो निर्ग्रन्थ ही हो गया परन्तु चारित्र में निर्ग्रन्थ कब होता है? उस अस्थिरता को छोड़कर जब स्थिर हो जाता है, (तब) चारित्र में निर्ग्रन्थ होता है। समझ में आया?

यह निर्ग्रन्थ तो आत्मा का स्वरूप है। 'नियमसार' में 'शुद्धभाव अधिकार' में आया है, भाई! 'शुद्धभाव अधिकार' - निर्ग्रन्थ तो आत्मा का स्वरूप ही है। 'गिगंथो गिदंडो गिद्वंदो' तीनों काल, हाँ! 'नियमसार' 'शुद्धभाव अधिकार' की गाथा है। 'गिगंथो गिदंडो गिद्वंदो' दण्डरहित, द्वन्द्वरहित, देहरहित उसका निर्ग्रन्थस्वरूप ही है, आत्मा का स्वरूप ही निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ अर्थात् रागरहित, विकल्परहित। कर्मरहित तो है ही। (क्योंकि) वह तो परद्रव्य है। विकल्परहित है, यह दृष्टि कौन स्वीकारे? सहितपने होने पर भी रहित मानना... आहा...हा...! व्यवहार से कर्मसहित, रागसहित। रागरहित (है वह) दृष्टि का ज़ोर है। समझ में आया? नहीं, मैं तो राग और शरीर, कर्म से रहित हूँ। अरे! परन्तु अभी नहीं... अरे...! अभी (ऐसा हूँ)। निश्चयदृष्टि में समय-

समय में ऐसा ही त्रिकाल है। व्यवहार वह ज्ञान करने की चीज है कि राग है। कहा न, जाना हुआ प्रयोजनवान है। जाना हुआ प्रयोजनवान है, आदर किया हुआ प्रयोजनवान है - ऐसा नहीं। वस्तुस्थिति ऐसी है। वरना किसी प्रकार वस्तु सिद्ध नहीं होती। निश्चय-व्यवहार एक भी सिद्ध नहीं होता। समझ में आया? हो गया (समय)!

'ऊँचा-आत्मध्यान निर्ग्रन्थ व निर्विकार हुए बिना नहीं हो सकता। जहाँ तक काम-विकार की वासना न मिटे, स्त्री-पुरुष का भेद न मिटे, लज्जा का भाव दिल से न हटे, वहाँ तक इस ऊँचे पद को ग्रहण न करे...' ऐसा कहते हैं। एकदम मुनिपना (आने के लिए) ऐसी शक्ति चाहिए। ऐसे एकदम नम्र हो जाए, शीघ्रता से ब्रत ले ले, निभा नहीं सके, फिर कुछ गड़बड़ किये बिना रहे नहीं। अपनी शक्ति को (देखकर ग्रहण करे) शक्तितपत्याग; आता है न, पण्डितजी! यह वहाँ विवेक है। मर्यादा में अपना कितना पुरुषार्थ सहज काम करता है, उतना त्याग करके अपना काम करना। विशेष मुनिपना न हो सके तो गृहस्थाश्रम में अपनी शक्ति अनुसार ध्यान करके अपना काम करना-ऐसा यहाँ कहते हैं।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)



(२६:४५ मिनटसे)

हमारे यहाँ एक बहुचर्चित विषय यह चलता है कि पर्यायके प्रदेश भिन्न हैं और आत्माके-द्रव्यके प्रदेश भिन्न हैं। आता है? १८१-१८२-१८३ गाथा परसे। प्रदेश भिन्नताकी चर्चा करे तो गुरुदेवश्रीके वचनमें यह बात वहाँ तक आती थी कि कर्मके प्रदेश भिन्न और आत्माके प्रदेश भिन्न, एकक्षेत्रावगाही होने पर भी। बँधे हुए संचित कर्म जो आत्माके प्रदेशके साथ आकाशकी अपेक्षासे एक प्रदेशमें निमित्त, आकाशरूप निमित्तकी अपेक्षासे एक प्रदेश और उपादानकी अपेक्षासे अपने-अपने प्रदेशमें रहे हैं। अर्थात् भिन्न प्रदेशमें रहे हैं। फिर भी एकक्षेत्रावगाही है ऐसा कहनेमें आता है। यह, उस निमित्तकी अपेक्षाका कथन है। आकाशरूप निमित्त है वहाँ एकक्षेत्रावगाहमें। दोनों आकाशके एक ही प्रदेशको रोकते हैं।

जो प्रदेश आत्मा रोकता है, वही प्रदेश कर्मके परमाणु रोकते हैं। इसलिये निमित्तसे ऐसा कहा। उपादानसे देखा जाये तो अपने-अपने प्रदेशमें है। प्रदेशका प्रकरण यहाँ से शुरू होता है। वहाँ से बादमें लो कि रागके प्रदेश भिन्न और जीवके प्रदेश भिन्न-आत्माके प्रदेश भिन्न। राग तो जीवके चारित्रगुणकी अवस्था है। चारित्रगुण कहाँ परिणमता है? कि आत्माके पूरे प्रदेशमें परिणमता है। फिर भी ऐसा कहते हैं कि राग ऊपर-ऊपर होता है,

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथके वचनामृत-२४९ पर भाववाही प्रवचन, दि. २१-५-१९८३, प्रवचन क्रमांक-१०६ (विषय : मार्गदर्शन)

रागको जाननेसे ज्ञान मलिन नहीं होता, पर रागको अपना माननेसे ज्ञान मलिन होता है। 'राग मेरा है' ऐसा माननेवाला अपने जीवका घात करता है और 'राग मेरा नहीं' ऐसा माननेवाला अपने जीवकी रक्षा करता है। २४९.

उसके प्रदेश भिन्न हैं। ज्ञानके प्रदेश भिन्न हैं। उससे आगे चले तो ज्ञानादि शुद्ध पर्यायके प्रदेश भिन्न हैं और त्रिकाली शुद्ध द्रव्यके प्रदेश भिन्न हैं। आत्माके प्रदेश कितने? और उसमें यह विभाग कैसे करना? एक ही प्रदेशमें ऊपर-नीचेका विभाग करना, खण्ड करना या प्रदेशोंमें कुछ जगह पर फेर करना और विभाग करना? क्या है ये सब? कि उसकी जहाँ जो अपेक्षा है उस अपेक्षाको समझना चाहिये।

प्रदेश तो एक अखण्ड प्रदेशी आत्मा है। उसमें असंख्य प्रदेशकी कल्पना करना, भेदकल्पना मात्र है। आत्मा एक अखण्ड प्रदेशी है। एक परमाणुके मापसे नापनेपर उसके असंख्य भेद कल्पनासे करनेमें आते हैं। वस्तुतः एक अखण्ड प्रदेशी है। उसमें स्वपना करनेके लिये भिन्न प्रदेशपना ऐसा कहनेमें आता है। वस्तुतः नहीं है। परन्तु वह वस्तुका ज्ञान एक ओर रखकर यहाँ क्या...

... निश्चयनयकी कथनीमें बलवानपना उस कथनसे बल पकड़नेके लिये, उस कथनके निमित्तसे बल बढ़ानेके लिये ऐसे शब्दप्रयोग आते हैं। वहीं उस ही विषयको व्यवहारनय ढीला करता है, शिथिल करता है। यहाँ

उसकी आवश्यकता नहीं है।

अब कहते हैं कि 'रागको जाननेसे ज्ञान मलिन नहीं होता, पर रागको अपना माननेसे ज्ञान मलिन होता है।' रागमें स्वपनेके अनुभव होनेसे, ज्ञानमें और स्वरूपमें स्वपना नहीं रहता। इसलिये स्वयंमें स्वयंका स्वपना चूक जाता है। यह टालनेके लिये यहाँ ऐसा कहते हैं कि रागका स्वपने अनुभव नहीं करना। भले ही राग अवस्थामें होता हो तो भी स्वरूपकी दृष्टिसे उसे भिन्न जानना। स्वरूपकी दृष्टिपूर्वक उसे भिन्न जानना। स्वरूपमें दृष्टि रखकर उसे भिन्न जानना। यह बात चल रही है।

वादविवादसे कोई निवेड़ा नहीं आता। इसमें वादविवाद करने जाये तो निवेड़ा नहीं होता। परन्तु स्वयंका हित, पारमार्थिक प्रयोजन क्या है उस पर वज़न रहना चाहिये, उसे अधिक अंगीकार करने हेतु समझ को खुली कर देनी चाहिये, स्पष्ट करके निर्मल कर देनी चाहिये, तो उसे वस्तुव्यवस्था सहज ही समझमें आयेगी कि इसमें वस्तुव्यवस्था क्या है? राग कहाँ होता है? जीवमें होता है कि जड़में होता है? प्रश्न तो यह चलता है न कि, राग यदि जड़में होता है तो आप उसको परका कहिये, परन्तु राग यदि जीवकी अवस्थामें होता है तो उसे परका कैसे कहना? तो उसे हेतुपूर्वक परका कहनेमें दोष नहीं है, किन्तु उसे परका कहनेमें निर्दोषता है। वज़न कहाँ जाता है? कहनेवालेका वज़न कहाँ जाता है, इसपर सब निर्भर करता है। उसके ऊपर उस कथनकी समिचीनता है। कथन किया तो कथन तो कोई भी मनुष्य कर सकता है। तोते से लेकर, मात्र रटन करनेवालेसे लेकर समझदार, गैरसमझदार हर कोई कथन करता है। परन्तु समझ पर सब निर्भर करता है और समझपूर्वक वज़न कहाँ जाता है उसपर उसके परिणाममें लाभ-नुकसानका कारण उत्पन्न होता है। अब क्या कहते हैं?

'रागको जाननेसे ज्ञान मलिन नहीं होता, पर रागको अपना माननेसे ज्ञान मलिन होता है।' बहुत अच्छा बोल लिया है। ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि हमें, राग भिन्नपने ज्ञात होता है। हमारे ज्ञानमें तो, जो राग

होता है वह अवस्थामें उत्पन्न होता हुआ राग भिन्नपने ज्ञात होता है और हमारी ज्ञानकी पवित्रता ज्योंकी त्यों रहती है। ज्ञान मलिन तो होता नहीं, अपितु हमारा ज्ञान पवित्र रहता है। निर्मल ज्ञानमें वह भिन्नपने ज्ञात होता है और वह पवित्रता वर्धमान होकर पूर्ण पवित्र हो ऐसी यह विधि है। अवस्थामें उत्पन्न होनेवाले रागको भिन्नपने जाननेमें ज्ञानकी पवित्रता वर्धमान होकर पूर्ण हो यह विधि चालू रही है, यह पद्धति विकसीत हो रही है और ज्ञानकी पूर्ण पवित्रता केवलज्ञानादि पर्यंतकी होगी। कार्य की यह पद्धति होनेसे रागको जाननेपर ज्ञान मलिन होता है ऐसा हमें लागू नहीं होता।

हाँ, रागको जाननेसे ज्ञान मलिन होता तो है, लेकिन कब? कि उसे जानते वक्त उसे अपना माने तब। इतनी इसके अन्दर खूबी है। जाननेके साथ-साथ उसमें स्वपना, अभेदबुद्धि, अभेदभाव हो जाता है तब उसकी मान्यताका, मिथ्या मान्यताका दोष ज्ञानके साथ-साथ उत्पन्न हो जाता होनेसे, तब ज्ञान भी अज्ञानरूप, मलिन ज्ञानरूप, विपरीत ज्ञानरूप परिणामित हो गया, मिथ्यात्वके साथ-साथ, तब ज्ञान मलिन हुआ ऐसा कहनेमें आता है। इस तरह व्यवस्था इस प्रकारसे, अध्यात्मका एवं वस्तुव्यवस्थाका इस तरह सम्बन्ध है।

'राग मेरा है'—ऐसा माननेवाला अपने जीवका घात करता है... ठीक! अज्ञानी जीव, मिथ्यादृष्टि जीव समय-समय पर उत्पन्न हो रहे रागको स्वयंके रूपमें अनुभव करता है तब उसने अपना माना। रागको अपनेरूप माना। 'मेरा है' ऐसा माननेवाले जीवको भावमरण होता होनेसे और वह भावमरण भी द्रव्यमरण सहित, कारण सहित होनेसे वह स्वयंको मारता है, अपने जीवको मारता है ऐसा कहनेमें आता है। वहाँ अपने जीवका घात किया। जीव तो मरता नहीं। मृत्युतुल्य दुःखको मारता है ऐसा कहनेमें आता है।

'और 'राग मेरा नहीं'—ऐसा माननेवाला... ज्ञानी। देखिये! पुनः कोई ऐसा तर्क लड़ाये कि ज्ञानी हो उनको तो इमानदारीसे रागको अपना जानना चाहिये

और मानना चाहिये। राग स्वयंको हुआ है ऐसी इमानदारीसे उसे रागको अपना मानना चाहिये। यह न्याय भी उनके ज्ञानमें है। राग उनकी अवस्थामें स्वयं करता है ऐसा न्याय उनको ज्ञानमें है, उनके ज्ञानमें नहीं है ऐसा नहीं है। ऐसा होनेपर भी, यहाँ उसका निषेध करना है और राग रहित ऐसे निज वीतराग स्वरूपका आदर करना है। विधि-निषेध। मोक्षमार्गमें इस तरह विधि-निषेध है। विधि अर्थात् कोई भी क्रियाका अनुसरण करना उसको विधि कहते हैं। अन्य क्रियाको, उल्टी विपरीत क्रियाकी उपेक्षा करना उसे निषेध कहते हैं। यह विधि-निषेधका प्रकरण यहाँ चला कि रागको अपना, मेरा नहीं है ऐसा माननेवाला, वह निषेध करता है। वह क्या करता है, कि जीवको बचाता है।

वह 'अपने जीवकी रक्षा करता है।' ऐसा लिया। स्वयंकी हिंसा स्वयं करता था, ज्ञान एवं आनंदप्राणको नष्ट करता था वह, उसने स्वयंके ज्ञानानंद प्राणकी रक्षा की। यानि अपनी अहिंसा का पालन किया ऐसा कहते हैं। मूलमें हिंसा-अहिंसाका प्रकरण यहाँसे उत्पन्न हुआ है जैनदर्शनमें। लोग फिर अन्य जीवकी हिंसा-अहिंसा तक स्थूल विषयकी पकड़में रह गये। परन्तु मूल बात तो हिंसा-अहिंसाकी यहाँ है।

जैनदर्शनका यह त्रिकाली सिद्धांत है कि राग है सो हिंसा है। वीतरागता है सो अहिंसा है और राग है सो हिंसा है। यह त्रिकाली सिद्धांत है। जीवको राग हो तब अन्य जीवकी हिंसा हो अथवा न हो, नहीं हो फिर भी राग हिंसा है। लोग तो जब अन्य जीवके प्राणका नाश हो उसे हिंसा मानते हैं और तबतक हिंसा नहीं मानते हैं। यहाँ कहते हैं कि ऐसा नहीं, राग स्वयं हिंसा है। भले ही उस समय अन्य जीवकी हिंसा न हुई हो, तब भी एक राग तो ऐसा है कि अन्य जीवकी अहिंसा पालना। ठीक! वह राग अहिंसा है या हिंसा? कि तेरे लिये तो वह राग भी हिंसा है। ठीक। तेरे लिये तो वह राग भी हिंसा ही है। तेरे ज्ञानानंद प्राण की हिंसा करनेवाला ऐसा राग, वह तेरे लिये तो हिंसा ही है। ऐसी बात है।

लेकिन मैं तो दूसरे की अहिंसा पालता हूँ, एकेन्द्रिय जीवकी भी अहिंसा पालनेका राग है। कहते हैं कि वास्तवमें वह तेरे प्राणकी हिंसा तो करता ही है। ऐसी बात है। बाहरमें जैनदर्शनका जो पूरा रूप है उससे अंतरंगका जैनदर्शनका रूप बिल्कुल अलग ही है। बाहरमें तो एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय, छकाय के जीवोंकी हिंसा नहीं करना और अहिंसा पालना, ऐसा प्रसिद्धरूपसे जैनदर्शनमें कहनेमें आता है। परन्तु राग है सो हिंसा है और वह टालने योग्य है, और वह टालनेपर स्वकी हिंसा तो मितेगी ही, अपितु परकी हिंसा भी वीतराग होनेसे मित जायेगी। इसप्रकार स्वपर अहिंसा पालनेका मूल कारण यह है। इस तरह अहिंसाको वीतरागतासे जैनदर्शनमें स्थापित किया है। मात्र पर-अहिंसाको स्थापित किया है ऐसा जैनदर्शन अधूरा नहीं है। मात्र छकाय के जीवोंकी अहिंसाको स्थापित किया है ऐसा अधूरा जैनदर्शन नहीं है। जैनदर्शन तो एक परिपूर्ण दर्शन है। वह परिपूर्ण दर्शन होनेसे स्व-पर दोनोंकी अहिंसाका विषय उसके अन्दर है कि स्वयंकी भी पूर्ण अहिंसाका पालन हो और उसका पालन होनेसे अन्य जीवकी भी पूर्ण अहिंसाका पालन होगा।

बाहरमें भी न्याय ऐसे ही किया जाता है कि, ऑपरेशन करते-करते, छूरी चलाते-चलाते ऑपरेशन टेबल पर दर्दीकी मृत्यु हो तो डॉक्टरको उसका खूनी गिननेमें नहीं आता। परन्तु हाथमें लहुवाली छूरी है और उसके कुछ अवयव भी कटे हुए हैं, कपड़े भी लहुसे बिगड़े हैं। उसमें से धारा निकलती है न? डॉक्टर पहनते हैं न? गाउन इसीलिये पहनते हैं कि उसका सूट खराब न हो, ऊपरका वस्त्र खराब हो। इसीलिये ऑपरेशन के समय गाउन पहननेमें आता है। तो कहते हैं कि उसे बचाने जाते उसकी मृत्यु हुई है। इसलिये उसका खून हुआ है ऐसा न्यायकी दृष्टिसे भी कह नहीं सकते।

इस प्रकार मुनिराज हैं उनको मन-वचन-कायाकी प्रवृत्तिमें छकाय के जीवोंकी अहिंसा पालनेके भाव सहित वीतरागी अहिंसा बहुत विकसीत हो गई है और बहुत

प्रगट हो गई है, ऐसे कालमें कोई जीवकी हिंसा उनसे हो, द्रव्यहिंसा-प्राणका घात हो तो भी मुनिको हिंसाका पाप नहीं है। पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि अट्टाईस मूलगुण पालनेवाले जो मुनि अन्दरमें वीतरागभावको धारण करते हैं इसलिये उस जीवको प्राणका नाश हो, मन-वचन-कायाके निमित्तसे तो उसकी हिंसाका पाप उनको नहीं है। मुनिको पापकी प्रवृत्ति नहीं है। जैसे डॉक्टरको हिंसाका आरोप नहीं आया, वैसे मुनिको नहीं आता। कारण क्या है? कारण यह है कि, उन्हें वीतरागी अहिंसा धारण की है। इसलिये उनको हिंसाका आरोप नहीं लगता। ऐसी बात है। और कोई द्रव्यलिंगी जीव इस प्रकारसे अट्टाईस मूलगुण पालता हो और अन्य जीवकी अहिंसा पाले तो भी उसको स्वयंको आत्मघातरूप हिंसाका पाप चालू है।

मुमुक्षु :— प्रमाद कषाय है द्रव्यलिंगीको।

पूज्य भाईश्री :— मिथ्यात्व है, अविरती है, प्रमाद है, कषाय है और योग है। पाँचों आस्रवके कारण उसको है। उसको मिथ्यात्वका आस्रव है साबित करनेकी जरूरत नहीं है कि उसको प्रमादका आस्रव है या नहीं। यह शंका करनेकी जरूरत नहीं रहती। ऐसा है। क्या लिया, देखो!

स्वपरप्रकाशकमें भी यह बोल लेनेमें आता है कि राग को जानता है वह परप्रकाशकता है। स्वयंको जानता है वह स्वप्रकाशकता है और रागको जानता है वह परप्रकाशकपना है। ऐसा परका प्रकाशित होना स्वपरप्रकाशक स्वभावमें अनिवार्य है। स्वपरप्रकाशक स्वभाव है वहाँ परका प्रकाशन तो अनिवार्य है। स्वपरप्रकाशक स्वभाव है वहाँ पर प्रकाशन होना तो अवश्य बनता ही है। उसमें राग तो मलिन तत्त्व है। उस मलिन तत्त्वका प्रकाशित होना भी बनता है। तो कहते हैं कि मलिन तत्त्वको प्रकाशित करते हुए प्रकाशन करनेवाला मलिन होगा? या प्रकाशन करनेवाला मलिन नहीं होगा? पवित्रभावमें रहकर प्रकाशन कर सकता है।

ज्ञान पवित्र दशामें, निर्मल दशामें रहकर स्वपरप्रकाशकतासे स्वको एवं परको प्रकाशित कर सकता

है। उसमें उसको अल्प भी दोष नहीं है। दोष तब लगता है कि जब रागको स्वयंके रूपमें स्वीकृत करके जानना हो तब। तब तक उसको दोष नहीं है। वह मान्यताका भी दोष है और ज्ञानका भी वहाँ दोष है। दोनों दोष साथ-साथ उत्पन्न होते हैं।

मुमुक्षु :— ज्ञान निर्दोष है।

पूज्य भाईश्री :— हाँ, ज्ञान निर्दोष है। ज्ञानमें भिन्नता ज्ञात होनी चाहिये थी न? जो राग ज्ञानमें प्रतिबिंबित हुआ तब, यह राग सो मैं नहीं और मैं ज्ञान हूँ, तो ज्ञान कहीं रागरूप नहीं हुआ है। स्वयं ज्ञानरूप है, वह स्वयं ज्ञानरूपसे नष्ट होकर, ज्ञानत्वका अभाव होकर रागरूप नहीं हो गया है। फिर भी ज्ञेयनिष्ठ ऐसा ज्ञान, ऐसे। प्रतिबिंबमें मानों वह स्वयंमें प्रविष्ट हो गया हो। क्या देखता है वह? कि वह राग स्वयंमें प्रविष्ट हो गया ऐसा उसको अनुभव होता है। राग ज्ञात हुआ, फिर भी वह मेरेमें आ गया, ऐसा वह जानता है। जब ज्ञान ज्ञानरूप रहता है तब राग ज्ञानमें ज्ञात होता है वह भिन्नरूपसे ज्ञात होता है और ज्ञान ज्ञानरूप रहकर, वेदन कर, ज्ञानको जानता हुआ ज्ञान रागको जानता है ऐसा जो प्रकार अंतरंगका है, इस तरह रागको जाननेसे ज्ञानकी मलिनता नहीं है। पवित्र निर्मल भावरूप रहकर ज्ञान रागको जानता है। यह उसकी अंतरंग क्रिया है।

यहाँ तो कहते हैं कि 'रागको अपना माननेसे...' अपनी मृत्यु है। लो, ठीक! अन्यथा न्याय तो ख्यालमें है। नयका विषय चले तब, अशुद्धनयसे ज्ञानी ऐसा जानते हैं कि राग मेरा है और मैंने किया है। अशुद्धनयसे। वहाँ भी उनको शुद्ध स्वरूपका ज्ञान है। स्वयं शुद्धात्मस्वरूप सदा है और उस शुद्धात्मामें संपूर्ण स्थिरता नहीं होनेसे अस्थिरताके वश रागादिकी उत्पत्ति अवस्था अंशमें होती है, ऐसा शुद्धताके ज्ञान सहित, स्वरूपकी शुद्धताके ज्ञान सहित अवस्थाकी अशुद्धताका ज्ञान होना उसको अशुद्धनयका ज्ञान कहनेमें (आता है), अशुद्धनयसे रागको जाना ऐसा कहनेमें आता है। और अशुद्धनयसे स्वयंका है ऐसा जाना ऐसा भी कहनेमें आता है। वहाँ

स्वरूपकी शुद्धताका ज्ञान नहीं है सो बात नहीं है।

श्रीमंत व्यक्ति गिड़गिड़ाये कि मैं गरीब हूँ और मुझे माफ करो। तब वह श्रीमंतताको कहीं भूल गया है क्या ? यह बात नहीं रहती। वह सब वचनव्यवहार कोई भी प्रकारसे आये, श्रद्धा-ज्ञान यथार्थपने परिणमित हुए हैं या नहीं ? इस पर दोष-निर्दोषताके कथनको तौला जा सकता है, इसके सिवाय दूसरे प्रकारसे उसको नक्की करने जाये तो कथन करनेवालेको अन्याय करने जैसा होता है। उसको न्याय तौलना नहीं रहता।

‘राग मेरा नहीं है’—ऐसा माननेवाला अपने जीवकी रक्षा करता है। सम्यक् प्रकारसे रागसे भिन्न पड़नेवाला और सम्यक् प्रकारसे रागादिका निषेध करनेवाला, ऐसा यहाँ लेना है। वह वास्तवमें अपने ज्ञान एवं आनंद प्राणकी रक्षा करता है। यानी जीवकी रक्षा करता है। और दूसरा जो विपरीत परिणामन करनेवाला है वह स्वयंको मारता है, द्रव्यमरण और भावमरणको उत्पन्न करता है। ऐसा यहाँ ले लेना। दो बात साथमें ली है। हिंसा-अहिंसाका विषय, स्वपरप्रकाशकताका विषय और ज्ञानकी मलिनता एवं शुद्धताका विषय—एक बोलमें इतनी बात साथमें ली है।

गुरुदेवकी यह एक विशिष्टता है। बहुत अध्ययन, बहुत चिंतन, बहुत मंथन। निवृत्त जीवनमें पहलेसे ही निवृत्ति थी। १५-१६ वर्षकी उम्र तक... १३ वर्षकी उम्रमें पालेज गये थे। चौथी कक्षा तक पढ़ाई कर ली। पहलेके जमानेमें तो चार-पाँच कक्षा तक गुजरातीमें पढ़ाई होती थी। उमरालामें पढ़ाई खत्म होनेके बाद १३ वर्षकी उम्रमें दुकान पर लग गये थे। छोटी उम्रमें। १५-१६-१७ वर्षकी उम्रमें दुकान पर भी धर्मका रंग था, इसलिये स्वाध्याय करते थे। इस जन्म जयंतिमें वह चित्रपट रखा था न ? ‘पालेज’की दुकान पर बैठे-बैठे स्वाध्याय करते हैं। दूसरे लोग व्यापार करते हैं, कोई नमूना बताता है, कोई बातचीत करके सौदा करता है, परंतु स्वयं बैठे-बैठे स्वाध्याय करते हैं। बचपनसे धार्मिकवृत्ति थी इसलिये व्यापारके समयमें भी, वे दुकान

पर बैठे-बैठे सज्जायकी पुस्तकें पढ़ते थे। सज्जायकी पदकी चार पुस्तकें थी। सब आध्यात्मिक पद। वह उनका रंग था। तबसे निवृत्ति। प्रवृत्तिके कालमें भी निवृत्ति हो गई है। फिर तो दीक्षा ली तबसे निवृत्तिमें स्वाध्याय, शास्त्रोंका अध्ययन, अंतर मंथन और चिंतन। हज़ारों लोगोंके संपर्कमें हज़ारों प्रश्न आये, उन प्रश्नोंका निराकरण (किया)। अतः बार हज़ार-हज़ार पहलूसे बाहर आयी, हज़ारो पहलुओंसे बात बाहर आयी। एक बोलमें कितनी बात ली है। इस परसे यह विचार आता है।

रागको जानना यह तो स्वपरप्रकाशक ज्ञानका कार्य है। जो निर्मलपने उत्पन्न हुआ स्वपरप्रकाशकज्ञान रागको भिन्नपने जानते हुए अल्प भी मलिन नहीं होता, बल्कि उत्तरोत्तर निर्मल होता जाता है, पवित्र होता जाता है। इसलिये ये तो प्रश्न ही नहीं है। एक। तो ज्ञान कब मलिन होता है ? अब यहाँ मान्यताके साथ बात ली कि रागको जानते हुए राग स्वपने ज्ञात हो, पर होनेके बावजूद, ज्ञानरूप नहीं होके बावजूद स्वपने ज्ञात हो तो वहाँ ज्ञान मलिन होता है। दर्शन तो मलिन हुआ ही, परन्तु ज्ञान भी वहाँ मलिन होता है।

और साथ-साथ हिंसा-अहिंसाका बोल ले लिया। स्वयंकी निज हिंसा कब होती है और निज अहिंसा भी कब होती है, उसपरसे पर की हिंसा-अहिंसाकी तुलना करनी। एकांतरूपसे परकी हिंसा-अहिंसाकी पर सम्बन्धित बात तो लौकिक है। जगतमें हिंसा-अहिंसाका लौकिक विषय है, उस लौकिक विषयमें एकांतरूपसे अन्य जीवके प्राणकी रक्षा करनी और प्राणोंका नाश करना, इतना ही मर्यादित विषय है। यह विषय, मर्यादित विषय पूर्णरूपेण न्याययुक्त नहीं है।

गांधीजी जैसे गांधीजी यहाँ भूले(चूके) थे। वे अहिंसा प्ररूपक एक बड़े नेताके रूपमें प्रसिद्ध हुए, फिर भी जैनदर्शनका सिद्धांत नहीं समझे थे इसीलिये साबरमतीके आश्रममें एक मरते हुए बछड़े की अत्यंत पीड़ा देखकर उन्होंने... उनका हेतु करुणाका था। उनको दया आ गयी थी कि अरे.. बेचारा दुःखी हो रहा है। यदि उसको इस

पीड़ा से छुड़ाना हो तो, अब वह बचे ऐसा लगता नहीं है, ऐसा समझकर.. फिर इलाज करनेसे बचेगा या नहीं बचेगा यह तो कोई कह नहीं सकता। परन्तु वह पहलू ग्रहण करनेके बजाय उन्होंने इंजेक्शन दे दिया, दिला दिया। अभी इंजेक्शन दे दो, ये मर जाये तो बेचारा पीड़ामेंसे मुक्त हो जायेगा। इस तरह एकांतरूपसे पर हिंसा एवं अहिंसाका विचार करनेसे विषय भी पूर्णरूपसे न्यायोचित नहीं रहता है। गड़बड़ी कहीं न कहीं उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। वह तो अन्दर अज्ञानमें थी, वह

गड़बड़ी तो थी ही, परन्तु यह प्रसंग बना तो बाहर आ गयी। परन्तु इस प्रकार, निज प्राणकी अहिंसाका विषय राग और वीतरागताके मुद्देसे सँभाला जाये और आदर करनेमें आये तो बाह्य हिंसाका और अहिंसाका विषय संपूर्णरूपसे न्यायसंगत रहता है। ऐसी परिस्थिति बाहरमें उत्पन्न होती है। अतः यह विषय सुप्रिम कक्षाका— अत्यंत उच्च कक्षाका यह विषय न्यायसे भी साबित होता है। यह अलौकिक जैनदर्शनका प्रभाव है इस विषयमें ऐसा विचारना चाहिये। यहाँ तक रखते हैं...

परमागमसार बोल-२५०, दि. २४-५-१९८३, प्रवचन क्रमांक-१०९
(विषय :- मार्गदर्शन-मिथ्यात्वकी भयंकरता)

पुण्य-पुण्य करके अज्ञानी पुण्यकी मीठासका आस्वादन करता है परन्तु पुण्यकी मिठास तो उसका खून करती है। मिथ्यात्व-भाव तो कसाईखाना है। मिथ्यात्वका पाप सात व्यसनसे भी अनन्तगुणा (भयंकर) है, उसका पोषण करनेवाले तो कसाईखाने खोलते हैं।
२५०.

परमागमसार, पृष्ठ-४५, २५०. 'पुण्य-पुण्य करके अज्ञानी पुण्यकी मीठासका आस्वादन करता है परन्तु पुण्यकी मीठास तो उसका खून करती है।' क्या कहा? अज्ञानभावसे जीवको पुण्यकी महत्ता है। धर्मके स्वरूपसे अनभिज्ञ होनेसे, वीतरागी धर्मके स्वरूपसे अनभिज्ञ होनेसे पुण्यको ही धर्म माननेवाले पुण्यकी महत्ता करते हैं और वे पुण्य परिणाम करते हैं तब वह पुण्य किया उसका संतोष मानते हैं। अथवा आत्मकल्याण किया हो ऐसा मानते हैं, ऐसा श्रद्धान करते हैं और वह उनको रुचता है। वास्तविकता यह है कि आत्मा जो वीतरागस्वरूप है उस वीतरागी तत्त्वसे, रागादि पुण्यभाव है वह अन्य तत्त्व है। मिथ्यात्वका स्वरूप यह है कि अन्य तत्त्वमें अन्य तत्त्वको मानना, अन्य तत्त्वमें अन्य तत्त्वको जानना यह मिथ्यात्वका स्वरूप है।

रागादि पुण्यभाव जो अन्य तत्त्वस्वरूप है। आत्मा

वीतरागस्वरूप है उससे जो अन्य तत्त्व है, उस अन्य तत्त्वको स्वयंरूप मानना, निज स्वरूप करना, अपना करके जानना यह मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्वसे जन्म-मरण होता है इसलिये ऐसा कहते हैं कि पुण्यकी मीठास तो उसका खून करती है। उसके ज्ञान एवं आनंद प्राणका घात करती है इसलिये खून करती है ऐसा कहनेमें आया है।

देखो, पूरे जगतसे बिल्कुल अलग बात है। जगतमें पुण्यको ही धर्मके क्षेत्रमें सर्वस्व माना जाता है और उस पुण्य परिणामका झंडा लेकर लोग घुमते हैं कि हम धर्म करते हैं, हम धर्म करते हैं। बहुत धर्म किया। फिर उसके अनेकविध प्रकार हैं। परन्तु वह समस्त प्रकारके शुभराग हैं, जिसे तत्त्वदृष्टिसे पुण्यतत्त्व कहनेमें आता है। नव तत्त्वमें वह पुण्यतत्त्वमें जाता है। वह अन्य तत्त्व है। उसको और आत्माको वास्तवमें तो विरुद्धता है। वीतरागको और रागको वास्तवमें तो विरुद्धता है। यह विरुद्धता

जाननेके बजाय उसीके साथ आत्मबुद्धि करे, उस पुण्यतत्त्वमें ही आत्मीयता करे, आत्मबुद्धि करे तो उसमें आत्माका घात होता है। उसमें ज्ञान एवं आनंदका घात होता है। पुण्य-पुण्य दो शब्द लिये हैं?

मुमुक्षु :— ...

पूज्य भाईश्री :— उसमें कठिन क्या है? जो जैसा है वैसा जानना है। अभी तक भूला हुआ जीव ऐसा विचार करता है कि वास्तवमें परिस्थिति वस्तुस्थिति क्या है? इतनी जिज्ञासासे विचार करे तो उसे ऐसा कहते हैं कि भाई, तू यहाँ भूला है। जो भी पुण्यभाव तूने किये उस पुण्यभावमें तेरी भूल हुई है। उसमें धर्म मानने सम्बन्धित तेरी भूल हुई है। यह मीठास वेदन करनेयोग्य नहीं है।

मूलमें तो क्या है कि जो धर्मके परिणाम हैं उसमें जो आत्माकी शांति है और जो वीतरागताकी निर्दोषता और पवित्रता है, उसको जीवने जानी नहीं है। इसलिये पुण्यके कषाय सहितके पुण्य परिणाम जो सकषाय परिणाम है, शुभराग वह भी राग कषाय परिणाम है उसमें जीव ममत्व करता है, वह अज्ञानभावसे ममत्व करता है। जीव मीठास कब वेदता है? कि उसमें उसे ममत्व होता है। निज के वीतराग स्वरूपमें अहंपना, ममपना, ममत्व होता नहीं इसलिये पुण्यकी मीठासमें, पुण्यभावमें वह ममत्व करता है, यह उसके स्वरूपके अज्ञानको प्रसिद्ध करता है, प्रतीत करता है। पुण्यभावकी मीठास और पुण्यभावमें ममत्व है वह स्वरूपके अज्ञानको प्रसिद्ध करनेवाले परिणाम है।

जो कोई जीव पुण्य (परिणाममें) ममत्व करता है उस विषयमें परीक्षा करनेकी जरूरत नहीं है, आवश्यकता नहीं है कि उसको आत्मज्ञान है कि नहीं? आत्मज्ञान हो उसको यह प्रकार आता नहीं। और जिसको आत्मज्ञान है वह तो शुभाशुभको छेदकर वीतरागी धर्ममें विकास करता होनेसे उसे पुण्य परिणाममें ममत्व होता नहीं।

पुण्यकी महिमा करता है, मीठास वेदता है। ये 'पुण्य-पुण्य' दो बार शब्दप्रयोग किया है न? वह उसकी महत्ता सूचक है। जिसको उसकी महत्ता आती है वह बारंबार उसीको मुख्य करता है। जिसे पुण्यकी महत्ता है, उसको आत्माकी महत्ता नहीं है। जिसे रागकी महत्ता है उसे राग रहित आत्मतत्त्वकी महत्ता नहीं है। ऐसा स्पष्ट होता है। इसलिये जो पुण्यके तरफदार है वे वीतरागताको गौण करनेवाले हैं। और जो वीतरागी धर्म करनेके तरफदार हैं वे पुण्यको गौण कर देते हैं। उनको पुण्य परिणाम होते तो हैं, परन्तु उस पुण्य परिणामको वे गौण करते हैं।

यहाँ कहते हैं कि तुझे पुण्य परिणाम हो, होंगे तो सही, जब तक छद्मस्थ है, साधक अवस्थामें भी वीतरागता अधूरी है, पूर्ण विकसीत नहीं है तब तक जो कचास है, अल्पता है उसमें पुण्यके परिणाम होंगे तो सही। परन्तु उस मीठासको वेदन करना अलग बात है। पुण्य होना यह दूसरी बात है और पुण्यकी मुख्यता होनी, उसकी मीठास होनी यह बिल्कुल दूसरी बात है। उसकी कोई क्रीमत नहीं है। ऐसा। पुण्यकी क्रीमत क्यों नहीं है कि उसके फलकी भी कोई क्रीमत नहीं है। पुण्यकी इसलिये क्रीमत नहीं है कि पुण्यके फलके कारणरूप वह पुण्य है। पुण्यभाव तो पुण्य फलके कारणरूप है।

तो जगतमें जो जीव तीव्र पापके परिणाम करता है अथवा तीव्र पापी गिना जाता है, निम्न एवं नीच परिणामवाले जो जीव हैं, ऐसे पापीमें पापी जीवको उस पुण्यके फलका संयोग तो देखनेमें आता है। मांस खाये, शराब पीये, अनेक प्रकार के हिंसात्मक उद्योग चलाए, बहुत पाप के परिणाम करे ऐसे जीवको पुण्य के फलरूप संयोग देखने में आते हैं, उसकी क्या क्रीमत? कि उसकी तो वास्तवमें कोई क्रीमत आँकनी चाहिये नहीं। वह पुण्यके फल तो पापी प्राणियोंको (भी) होते हैं, उसकी क्या क्रीमत? कि इस जगतमें उसकी कोई क्रीमत नहीं है।

मोक्षमार्गमें आत्माका महत्त्व और आत्माकी मुख्यता

और आत्मधर्मकी मुख्यता इतनी है कि पुण्य-पाप और पुण्य-पापके फलकी कोई क्रीमत ही नहीं आँकी गई है। इसीलिये मोक्षमार्गी जीव, मोक्षार्थी जीवको पापके परिणामकी क्रीमत आँकनेका सवाल नहीं है, पापकी महत्ता करनेका तो प्रश्न ही नहीं है, विवादास्पद ही नहीं है वह तो, परन्तु अपने पुण्य परिणामकी भी उसको कभी महत्ता नहीं करनी चाहिये। और उस पुण्यभावमें उसको ममत्व नहीं करना चाहिये ऐसा उपदेश है। वीतराग का यह उपदेश है कि रागकी महत्ता नहीं करनी। वीतरागताका ही महत्ता करनी और रागकी महत्ता नहीं करनी।

मुमुक्षु :— पुण्य है, उसको पापकी ही महत्ता कही है न?

पूज्य भाईश्री :— पापकी महत्ता करनेका तो कोई धर्म कहता नहीं। वीतराग धर्म तो कहे ही कैसे? इस्लाम जैसे इस्लाम धर्ममें भी पाप नहीं करना ऐसा तो स्पष्ट लिखा होता है। फिर भले ही किसी न किसी बहाने वहाँ पाप घुस जाता है। परन्तु स्पष्टरूपसे पाप करना ऐसा तो कोई नहीं कहता। तो सर्वोत्कृष्ट धर्म है, जहाँ पुण्यको भी पापमें खतियाते हैं, वहाँ स्पष्टरूपसे पाप करनेकी बात हो यह तो स्वप्नमें भी विचारने जैसा नहीं है।

मुमुक्षु :— हो जाये तो क्या करना?

पूज्य भाईश्री :— हो जाये तो उसका खेद होना चाहिए। हो जाये इसलिये उसका बचाव नहीं करना चाहिये कि हम तो गृहस्थी हैं और गृहस्थमें तो इतना पाप करना ही पड़ता है। ऐसा करने पर तो वह पाप करनेका अभिप्राय हो जायेगा और अभिप्रायका बड़ा दोष उत्पन्न होगा। इसमें क्या है, कि कोई परिणाम हो उसके पीछे इस जीवका अभिप्राय क्या है यह बात है। इस जगतमें जो कोई पापके परिणाम जीव करता है उससे भी उसको सुख लेनेका और सुख प्राप्त करनेका भाव है। कि और कुछ है? ये लो न, मनुष्य व्यापार-व्यवसाय करता है कि नहीं? मात्र पाप की गठरी है। इमानदारीसे करे तो भी, हाँ! इमानदारीसे तो अभी कम करते हैं,

कोई ही करता है परन्तु इमानदारीसे करे तो भी सिर्फ पापकी ही गठरी है। पाप नहीं, पापकी गठरी है। ढेरों हैं।

मुमुक्षु :— आजीविका जितना तो मनुष्य...

पूज्य भाईश्री :— आजीविका जितना करना पड़े उसका खेद होना चाहिये। अभिप्राय नहीं होना चाहिये। अब वह जो पापके परिणाम होते हैं उसके पीछे इस जीवका स्वयंका, सबको अपना उसके पीछे क्या अभिप्राय है इसकी जाँच कर लेनी चाहिये।

मुमुक्षु :— प्रारंभमें भूल लगे, बादमें हकीकत हो जाती है।

पूज्य भाईश्री :— हकीकत हो जाती है यानी?

मुमुक्षु :— बराबर है, चलता रहता है।

पूज्य भाईश्री :— ऐसा नहीं, इसमेंसे कब छूट जाऊँ? ऐसे उसको परिणाम रहने चाहिये। इसमें आगे बढ़ूँ ऐसे परिणाम नहीं रहने चाहिये। परन्तु इसमेंसे मैं कब छूट जाऊँ ऐसे परिणाम रहने चाहिये।

श्रीमद्जीने एक जगह, मुमुक्षुओंको मार्गदर्शन बहुत प्रकारसे दिया है उसमें एक जगह ऐसी बात कही है कि भाई! तू अपनेआपको पूछना यदि तुझे विशेष कमानेकी आवश्यकता नहीं है यानी अजीविका जितनी पर्याप्त व्यवस्था पूर्व पुण्यकर्मके उदयसे बैठ गई हो, ऐसा पूर्व कर्म हो कि जिससे बैठ गई हो तो तू किसके लिये, और क्यों करता है यह तू स्वयंको पूछना। तू स्वयंको पूछ लेना कि अब तू किसके लिये और क्यों करता है? ऐसा करनेके पीछे तेरा अभिप्राय क्या है? यह तू तेरे अंतरंगको जाँच लेना और जाँच करनेपर तुझे ऐसा लगे कि आवश्यकता नहीं है, फिर भी यह प्रवृत्ति करनेका भाव होता है तो तुझे तेरा हित करनेकी दरकार नहीं आयी है, तेरा कार्य तुझे शीघ्र कर लेना चाहिये, यह भावना तुझे मूलमेंसे नष्ट हो गई है इसीलिये तुझे ऐसे परिणाम होते हैं ऐसा तू इतना विचार करना। इतनी बात है।

सत्पुरुष बहुत बातें (स्पष्टता) कर गये हैं। उसका

मूल्य नहीं हो सकता, उसकी क्या कीमत हो? उसे अनंत पापसे बचाते हैं इतना ही नहीं, पापके अनंत फलके दुःखसे भी बचाते हैं। यहाँ कोई वर्तमान एक जीवनकी व्यवस्था बिठा दे तो उसका गुलाम बनकर घुमता है। अरे..! भाईसाहब! आप नहीं मिले होते तो हमारी भीख माँगनेकी नौबत आ गई होती। वर्तमानमें जो कुछ अनुकूलताएँ हैं यह सब आपकी मेहरबानीके कारण है, ऐसा कहे। आप जैसा कहो ऐसा करनेको तैयार हूँ। लेकिन ऐसे सन्मार्ग पर चढ़ानेवाले और उन्मार्गसे बचानेवाले सत्पुरुष, एक पथिककी भाँति मार्ग-निर्देश करके चले गये हैं। स्वयं मार्ग पर चढ़े हैं और मार्गके सन्मुख अंगूली निर्देश करते गये हैं कि देखो, यह मार्ग है, इस ओर मार्ग है, ऐसे चलना.. ऐसे चलना.. ऐसे चलना।

कहते हैं कि भाई! मोक्षमार्गमें पुण्य-पुण्य ऐसा करके पुण्यकी महत्ता करने जैसी नहीं है और पुण्यके परिणाम हो तो उसकी मीठास भी वेदन करने जैसी नहीं है। वह मीठास तो ममत्वके कारण आती है। जहाँ ममता है वहाँ उसको मीठास लगती है। वह तो आत्माका खून करती है। यानी आत्माके जो भावप्राण हैं, निर्मल ज्ञान एवं आनंद है, पवित्रता आदि धर्म है उसका वह छेद करता है।

‘मिथ्यात्व-भाव तो कसाईखाना है।’ देखो! यहाँ कोई कसाईखाना शुरू करे तो कँपकँपी होती है कि अरे..रे..! प्रतिदिन कितने प्राणियोंके प्राण हरता है। यहाँ प्रतिसमय, क्षण-क्षणमें मिथ्यात्वसे निज प्राणका घात करता है उसके सामने देखता नहीं। पुण्यकी मीठास करके, मीठासका वेदनकर अपने ज्ञान एवं आनंदके प्राणका घात करता है उसके सामने देखता नहीं है। **‘मिथ्यात्व-भाव तो कसाईखाना है। मिथ्यात्वका पाप सात व्यसनसे भी अनन्तगुणा (भयंकर) है,...**’ बड़ा है यानी कितना है? अनन्तगुणा है। कहिये! दूसरे पाप दिखते हैं, बाहरमें दूसरे पाप दिखते हैं। सप्त

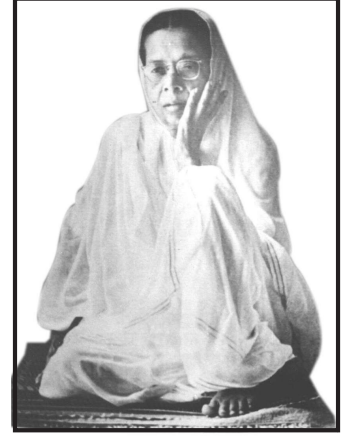
व्यसन लिये हैं? शिकार है, मदिरा है, मांस है, अनेक प्रकारके तीव्र पापके परिणाम हैं वह, जीवोंको पापरूप लगते हैं परन्तु मिथ्यात्वका पाप उससे अनन्तगुणा है, यह दिखाई नहीं देता।

मूल विषय ही यह है। जैनदर्शनमें नींवकी जो बात कही है वह यह बात कही है कि मिथ्यात्व है वह जीवका एक भयंकर परिणाम है, कि जो अनंत-अनंत काल जीवको जन्म-मरणके परिभ्रमणमें रखड़ाता है। उसकी भयंकरता समझकर किसी भी प्रकारसे यानी पूरे उद्यमसे, किसी भी प्रकारसे यानी जो प्रकार है उस एक प्रकारसे पूरे उद्यमसे, पूरे प्रयत्नसे, आयुष्य पूर्ण हो उसके पहले उसको मिथ्यात्वका अभाव करना चाहिये। उस परिणामको छेदना चाहिये। और आत्मा जिस मूल स्वरूपसे है उसका श्रद्धामें उसे स्वीकार करना चाहिये। अस्ति नास्तिसे एक ही बात है। अपने मूल शुद्ध सिद्धपदका स्वीकार करना, वह है ऐसी उसकी विद्यमानता है उसको श्रद्धानमें ग्रहण करना और वह ग्रहण होनेपर इससे अतिरिक्त सर्व तत्त्वमें, अन्य तत्त्वमें ममत्वका अभाव होना, इस प्रकारमें उसे पूरे प्रयत्नसे आना चाहिये। पूरे उद्यमसे रात-दिन उसके पीछे लगकर उस स्थितिमें उसको पहुँचना चाहिये। नहीं तो भवभ्रमण है उसमें पुनः पुनः यह प्रयत्न करनेकी सुध रहे, बुध रहे ऐसी परिस्थिति जीवकी नहीं रहती।

बहुभाग तो यह परिस्थिति है कि उसका विचारमात्र भी करनेको जीव तैयार नहीं है। मनुष्य होनेके बाद भी बहुभाग जीवोंको तो पुण्य-पापका छेद करनेकी और वीतरागी धर्मकी निर्दोषता प्राप्त करनेकी बात रुचती नहीं है। सुनना रुचे नहीं। हम जो करते हैं वह हमें करने दो। अभी हमको यही करना है। यह सर्वस्व हो गया है। वर्तमानमें जो उसके उदयिक भाव हैं वह, जीव ऐसे सर्वस्व भावसे करता है कि उसे दूसरा कुछ करना रुचता नहीं। यह परिस्थिति होती है।

(प्रवचन का शेष अंश अगले अंकमें...)

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी. ११- A



मुमुक्षु :- स्वयं की भूमिका की योग्यता मं विकारी भावो को जो छोड़ना चाहता है वह खुद की वर्तमान भूमिका को समझ नहीं सकता।

समाधान :- स्वयं की भूमिका ?

मुमुक्षु :- स्वयं की भूमिका के योग्य होनेवाले विकारी भावों को जो छोड़ना चाहता है वह स्वयं की वर्तमान भूमिका समझ नहीं सकता। फिर आगे ऐसा कहते हैं, इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या है।

समाधान :- उसका ज्ञान मिथ्या है?

मुमुक्षु :- जी हाँ। आगे और भी है, वह बाद में आपको कहूँगा।

समाधान :- स्वयं की भूमिका के योग्य अर्थात् स्वयं को स्वयं की भूमिका सुधारनी होती है। विभावभाव छोड़ने पर स्वयं की भूमिका यदि सुधरे तो विभावभाव छूटते हैं। यदि उसे विभावसे छूटने की भावना हो तो स्वयं को स्वयं की भूमिका सुधारनी होती है।

मुमुक्षु :- स्वयं की भूमिका माने क्या?

समाधान :- खुदको अन्दरसे आगे बढ़नेपर सहज ही विभावभाव नहीं होते। अन्दरसे अपनी ज्ञायकता, ज्ञाताधारा प्रगट हो तो सहज ही उसकी भूमिका के योग्य हो उस अनुसार उसकी दशा रहती है। विभावभाव रुचते नहीं हो तो भूमिका सुधारनी चाहिये।

मुमुक्षु :- और यह भूमिका ज्ञायक के आश्रये सुधरती है?

समाधान :- ज्ञायकके आश्रयसे सुधरती है, अन्य कोई विधिसे सुधरती नहीं।

मुमुक्षु :- गुरुदेव को ऐसा कहना है कि वास्तव में जो-जो विकारीभाव जिस-जिस भूमिका में आते हैं उसे छोड़ने का पुरुषार्थ करने के बजाय, ज्ञायक को पहचानकर, ज्ञायक का आश्रय लेकर तू भेदज्ञान कर, ऐसा कहना चाहते हैं?

समाधान :- हाँ, ऐसा कहना चाहते हैं। विभावभाव के लक्ष्यसे विभावभाव नहीं छूटते। विभावभाव छोड़ दूँ, छोड़ दूँ (ऐसे नहीं), परन्तु तेरी भूमिका, तू ज्ञायकता प्रगट कर तो सहज ही छूट जाते हैं। परन्तु जिज्ञासु की भूमिका में ऐसा आता है ये कि विभावभाव मुझे रुचते नहीं, ये कैसे छूटे? लेकिन उसका सत्य मार्ग नहीं प्राप्त होता इसलिये उसे छोड़ने की भावना आती है। परन्तु उसका सही मार्ग क्या है तू उसे ग्रहण कर। वह वास्तविक रूपसे, यथार्थरूपसे कब छूटे? कि स्वयं की भूमिका सुधरे तो। तेरी भूमिका, तू ज्ञायकता प्रगट कर, भेदज्ञान प्रगट कर तो तेरे विभावभाव यथार्थ रूपसे छूटते हैं। नहीं तो अशुभ-से शुभभाव (होते हैं), इसप्रकार वह छूटते हैं, वास्तविकरूपसे छूटते नहीं।

इसलिये उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि अशुभभावों में ही रहना। ऐसा अर्थ नहीं है। उसे मुमुक्षु को अशुभभावमें-से शुभभाव के विचार आते हैं, लेकिन उसका सच्चा मार्ग क्या है, उसे तू पहचान।

मुमुक्षु :- माताजी! तो फिर गुरुदेवने उसे मिथ्यादृष्टि क्यों कहा? ऐसा कहा न? कि उसकी भूमिका के योग्य होनेवाले विकारी भावों को जो छोड़ना चाहता है वह स्वयं की वर्तमान भूमिका समझ नहीं सका है, इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या है।

समाधान :- उसका ज्ञान मिथ्या है। विभावभावों को छोड़ने का मार्ग वह समझा नहीं है कि किस प्रकार वह छूटते हैं। इसलिये बाहर में ही सुधार करता रहता है। बाहर का सुधार करता रहता है, इसलिये उसका ज्ञान सच्चा नहीं है, वह मार्ग नहीं पहचानता है। वह बाहरसे ही सुधार करना चाहता है इसलिये। जिसका ज्ञायक पर लक्ष्य नहीं है ऐसे बहुत-से जीव बाहरसे ही सुधार करते रहते हैं। अशुभभाव का सुधार किया करते हैं, लेकिन वे वास्तविकरूपसे छूटते नहीं है। इसलिये उसका ज्ञान सच्चा नहीं है। बाहरसे सुधार करता रहता है।

मुमुक्षु :- बाहरसे यानी शुभ का अवलम्बन लेकर अशुभ को छोड़ना चाहता है।

समाधान :- शुभ का अवलम्बन लेकर अशुभभाव छोड़ना चाहते हैं और मार्ग को जानता नहीं, आत्मा की ओर कोई दृष्टि नहीं है कि वह आत्मा के लक्ष्यसे छूटते हैं। उसका कोई ध्येय नहीं है। तो उसका ज्ञान (मिथ्या है)। जीवने कषाय की मन्दता अनन्त बार की है। मन्द कषाय करके मुनिपना ले लिया, बाहरसे सब सुधार किया लेकिन उसका ज्ञान सच्चा नहीं है। इसप्रकार उसे वास्तविकरूपसे छूटता नहीं है। मात्र वैराग्यसे उसे सब छूट जाता है। लेकिन वास्तविकरूपसे अन्तरसे छूटता नहीं। इसलिये उसका ज्ञान सच्चा नहीं है।

मुमुक्षु :- सच्चा उपाय भी वह है कि स्वयं की भूमिका को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये।

समाधान :- तू भूमिका को सुधार। अन्दरसे सत्य मार्ग ग्रहण कर।

मुमुक्षु :- माताजी! उस बोल में आगे है, और जिसे वर्तते विकारी भावों का निषेध नहीं आता है, एक ही बोल है, बहुत लंबा था इसलिये संक्षिप्त में लिया, और जिसे वर्तते विकारी भावों का निषेध नहीं आता परन्तु मीठास लगती है तो वह भी वस्तु स्वरूप समझा नहीं है, इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या है।

समाधान :- वर्तते विभावभावों का जिसे निषेध नहीं आता और मीठास लगती है, जो भाव (चल रहे हैं उसका निषेध नहीं आता है कि), यह रखने जैसे नहीं है, यह मेरा स्वभाव नहीं है। उसका निषेध नहीं आता और अन्तर में गहराई में मीठास रहती है तो भी उसका ज्ञान सच्चा नहीं है, वह भी झूठा है। और जो बिना समझे छोड़ना चाहता है तो वह ज्ञान भी झूठा है और अन्दर मीठास लगती रहे और निषेध नहीं आता है तो भी ज्ञान झूठा है।

मुमुक्षु :- कहाँ खड़ा रहना?

समाधान :- वह खड़ा कहाँ रहेगा? आत्मा को पहचान, आत्मा का ध्येय बना। अन्तर में मीठास लगती रहे और ऊपर-ऊपरसे यह ठीक नहीं है, ठीक नहीं है (ऐसा करे), अन्तर गहराई में मीठास लगती है तो उसका ज्ञान जूठा है। जो होना होगा वह होगा ऐसा करता रहता है। आत्मा में कहाँ कुछ है? यह सब छूटना होगा तब छूटेगा। उसका कोई निषेध नहीं। उसका अन्द से निषेध आता नहीं। आत्मा के स्वभाव में कुछ नहीं है, यह सब छूटना होगा तब छूटेगा, ऐसे भाव है उसका ज्ञान सच्चा नहीं है। अन्दर में विभाव का आदर है, मीठास लगती है और मेरे आत्मा में कुछ नहीं है, ऐसा करके खड़ा है, पुरुषार्थ नहीं करता है तो उसका ज्ञान जूठा है।

मुमुक्षु :- छोड़ना चाहता है उसका ज्ञान भी मिथ्या है और निषेध नहीं वर्तता है उसका ज्ञान भी झूठा है।

समाधान :- उसका ज्ञान भी मिथ्या है।

मुमुक्षु :- तो फिर अस्तिसे...

समाधान :- स्वयं को अस्ति से शुरुआत करनी चाहिये कि मैं ज्ञायक हूँ। मेरी वस्तु में-स्वभाव में वह नहीं है, परन्तु पर्याय में है। इसलिये ज्ञायक को ग्रहण करके, पुरुषार्थ करके ज्ञायक की परिणति प्रगट करने का प्रयत्न करना चाहिये। अन्दर मेरे स्वभाव में नहीं है लेकिन पर्याय में है इसलिये वह पर्याय मेरे मूल स्वरूप-द्रव्य में नहीं है, परन्तु

पर्याय में है। इसलिये उसे पुरुषार्थ करके, भेदज्ञान द्वारा, भेदज्ञानसे ज्ञायक को ग्रहण करके द्रव्य पर दृष्टि करके वह छूटते हैं। इसलिये उसका मार्ग ग्रहण करता है।

मुमुक्षु :- विकल्प सन्मुख होने के बजाय ज्ञायक सन्मुख होवे तो उसे सच्चा उपाय..

समाधान :- सच्चा उपाय है। विभाव छोड़ने का सच्चा उपाय, ज्ञायक को ग्रहण करनेसे सहज ही छूट जाते हैं। मैं ज्ञायक हूँ, मैं जाननेवाला हूँ, मेरे स्वरूप में वह नहीं है। यथार्थपने ज्ञायक को ग्रहण करे, वचनमात्र नहीं। अन्दरसे ग्रहण करता है उसे विभाव छूटते हैं।

मुमुक्षु :- माताजी! प्रवचनसार .. उसमेंसे प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि, ज्ञानी का कोई भी दोष दिखाई दे तो उनके प्रति वह अविनय गिना जाता है? कोई भी दोष दिखाई दे तो वह अविनय में जाता है?

समाधान :- खुद दोषदृष्टिसे देखता है इसलिये वह अविनय है। दोषदृष्टिसे देखता है इसलिये अविनय है। बाकी ज्ञानी की भूमिका समझे, सम्यग्दृष्टि की कौन-सी भूमिका होती है, अणुव्रतधारी की कौन-सी भूमिका होती है, मुनि की (कौन-सी भूमिका है)? ऐसे भूमिका समझे वह अलग बात है। अन्यथा दोष की दृष्टि हो कि इतनी तो भूल होती है, यह भूल होती है, इसप्रकार दोषदृष्टिसे देखे तो अविनय है।

मुमुक्षु :- दोषदृष्टि में आपने यह स्पष्टता की कि इतना दोष है ऐसा देखना वह दोषदृष्टि है?

समाधान :- इतना दोष है। वह दोषदृष्टि है। यह बराबर नहीं है, इतना उनका दोष है, ज्ञानी का इतना दोष है। ऐसे देखता है वह दोषदृष्टि है।

मुमुक्षु :- भूमिका का ज्ञान होना वह तो जैसा है वैसा है।

समाधान :- जैसा है वैसा ज्ञान तो होना चाहिये। आत्मार्थी को सब ज्ञान होता है लेकिन उसे, ऐसा नहीं होना चाहिये, ऐसी यदि दृष्टि हो जाये तो वह दोषदृष्टि है, इसलिये अविनय है।

मुमुक्षु :- एक दृष्टान्त देकर माताजी! मैं अपने हृदय का खुलासा करूँ तो गुरुदेव जब सबको प्रसादी देते थे तब कुछ लोग ऐसा कहते थे कि यह बराबर नहीं है। किसीकी टीका के लिये नहीं कहता हूँ। उसमें उसने दोष देखा न?

समाधान :- .. है, ऐसा अर्थ होना चाहिये। वे तो (पू.गुरुदेव) निवृत्त होकर मुझ पर कृपा करते हैं, ऐसा अर्थ होना चाहिये।

(पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीके वचनमृत...)

हर समय द्रव्यस्वभाव की अधिकता रहनी चाहिए। जैसे तिनके की आड़में डूंगर (पर्वत) नहीं दिखता है, वैसे ही दृष्टि परिणाम पर रुकनेसे परिणामी ढँक जाता है। ५९९.

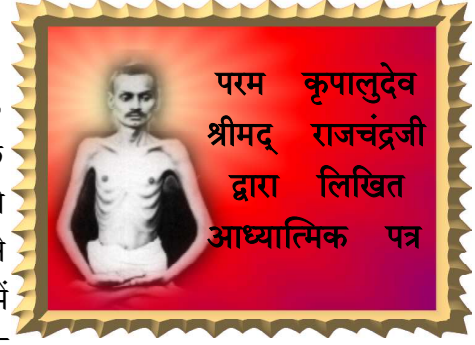
क्षणिकभाव व्यक्त है उसको गौण करना; और त्रिकालीभाव अव्यक्त है उसको मुख्य करना। ६०३.

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अक्टूबर-२०२१) का शुल्क डॉ. महेशभाई मेहता, मुंबई, ह. धर्मेन्द्रभाई वोरा के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

२७७

ववाणिया, भादों वदी ७, १९४७

चित्त उदास रहता है, कुछ अच्छा नहीं लगता; और जो कुछ अच्छा नहीं लगता वही सब दिखायी देता है, वही सुनायी देता है। तो अब क्यां करे? मन किसी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं कर सकता। जिससे प्रत्येक कार्य स्थगित करना पड़ता है। कुछ पढ़ने लिखने या जनपरिचयमें रुचि नहीं होती। प्रचलित मतके प्रकारकी बात सुनायी पड़ती है कि हृदयमें मृत्युसे अधिक वेदना होती है। इस स्थितिको या तो आप जानते हैं या स्थिति भोगनेवाला जानता है; और हरि जानता है।



२७८

ववाणिया, भादों वदी १०, रवि, १९४७

“जो आत्मामें रमण कर रहे हैं, ऐसे निर्ग्रंथ मुनि भी निष्कारण भगवानकी भक्तिमें प्रवृत्ति करते हैं, क्योंकि भगवानके गुण ऐसे ही हैं।”

^१-श्रीमद् भागवत् स्कन्ध १, अ.७ श्लोक १०

२७९

ववाणिया, भादों वदी ११, सोम, १९४७

जीवको जब तक संतका योग न हो, तब तक मतमतांतरमें मध्यस्थ रहना योग्य है।

२८०

ववाणिया, भादों वदी १२, मंगल, १९४७

बताने जैसा तो मन है, कि जो सत्स्वरूपमें अखंड स्थित हुआ है (नाग जैसे बासुरीपर); तथापि उस दशाका वर्णन करनेकी सता सर्वाधार हरिने वाणीमें पूर्णस्वरूपसे नहीं दी हैं; और लेखमें तो उस वाणीका अनंतवाँ भाग मुश्किलसे आ सकता है, ऐसी वह दशा उस सबके कारणभूत पुरुषोत्तमस्वरूपमें हमारी, आपकी अनन्य प्रेमभक्ति अखंड रहे, वह प्रेमभक्ति परिपूर्ण प्राप्त हो, यही प्रयाचना चाहकर अभी अधिक नहीं लिखता।

१. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रंथा अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥ स्कंध १, अ. ७, श्लोक-१०